लौहित्य साहित्य सेतु: सहयोगी विद्वानों द्वारा पुनरीक्षित द्विभाषिक ई-पत्रिका
वर्ष: 3, संख्या: 4; जनवरी-जून, 2022

उपन्यास की प्राणधारा

✍ भरत प्रसाद

उपन्यास का जन्म ही यथार्थ की अभिव्यक्ति की पीड़ा से हुआ है। यथार्थवाद, आधुनिकता और उपन्यास एक दूसरे से आत्मवत् जुड़े हुए हैं । इसीलिए उपन्यास को आधुनिकता की प्रतिनिधि विधा कहा गया और उसे महाकाव्य से समानान्तर सम्मान मिला । यह बात और है कि साधक कवियों के संकल्प के बूते महाकाव्य ने जो असाधारण शिखरत्व हासिल किया, वैसी ऊँचाई उपन्यास हासिल न कर सका। टॉलस्टॉय, गोर्की, चेखव, शोलोखोव, बाल्जाक, मोपांस, कुप्रिन, अल्वेर कामू, लूशून, शरत्चन्द की कीमत को आज साहित्य का कौन सा सच्चा प्रेमी नहीं जानता ? परन्तु जीवन, समाज, व्यक्ति, व्यवस्था और मानव चरित्र की संरचना को खोलने में और उसे सशक्त अंदाज में प्रस्तुत करने में जो कामयाबी महाकाव्य ने हासिल की, उपन्यास ने वैसी नहीं। कहना जरूरी है कि उपन्यास के शिखरत्व और संपूर्णता की यात्रा अभी भी अधूरी है। वह टॉलस्टॉय, प्रेमचन्द और गोर्की से भी पूरी नहीं हुई है। जिस दिन उपन्यास अपने महान आकर्षण में महाकाव्य की जगह ले लेगा और अपनी पंक्ति-दर-पंक्ति में हूबहू उपन्यास महाकाव्य जैसा मानसिक, भावात्मक, वैचारिक आनंद देने लगेगा, उपन्यास की यात्रा सम्पूर्ण हो जाएगी।

कसौटी पर यथार्थवाद

उपन्यास ने यथार्थवाद की गोद में पलकर विकसित होते हुए कई दिशाओं में आश्चर्यजनक विकास की यात्रा तय की। स्थूल, प्रत्यक्ष और दृश्यात्मक यथार्थ से आगे बढ़ते हुए सूक्ष्म, अदृश्य और आभासी यथार्थ तक अपनी पहुँच को विकसित कर लेना उपन्यास की काबिलियत का कालजयी प्रमाण है। यथार्थवाद की पहचान मूलतः आकार, दृश्य, रूप और प्रकृति पर निर्भर रही है। आज भी इसकी प्रतिष्ठा का मूल आधार विषय का दृश्य स्वरूप या प्रत्यक्ष आकार-प्रकार ही है, किन्तु बनी-बनाई गयी लीक से हटकर विचार करें तो यथार्थवाद की अनेक सम्भावनाएँ नाचती हुई दिखाई देने लगती हैं। जिस तरह रूप की मूलशक्ति अरूप है, दृश्य का मूल कारण अदृश्य है और स्थूल का रहस्य सूक्ष्म है उसी तरह यथार्थ की ताकत सूक्ष्म, अदृश्य और अप्रत्यक्ष है। विषय, तत्व या वस्तु प्रत्यक्षतः जिस रूप में

दिखाई देते हैं वह उसका बाह्य सत्य मात्र है, कई अर्थों में यह सत्य क्षणिक, परिवर्तनशील और विनाशी भी। यथार्थ अपने प्रत्येक परिवर्तन के लिए अनिवार्यतः अपनी अन्तःसंरचना पर या आभ्यान्तरिक प्रकृति पर निर्भर है। मनुष्य, प्रकृति या सृष्टि का जो कुछ बाह्य रूप हम देख रहे हैं, वह उसकी स्थायी पहचान नहीं हैं अर्थात स्थूल स्वरूप के आधार पर यथार्थवाद की परिभाषा दी ही नहीं जा सकती। यथार्थवाद की कसौटी दृश्य यथार्थ नहीं, अदृश्य यथार्थ है, क्योंकि वह अरूप और सूक्ष्म रहकर भी यथार्थ को पूरी तरह परिवर्तित और नियंत्रित करने का मौलिक अधिकार रखता है। वृक्ष जो अपने विकास के शुरूआती वर्षों में दिख रहा था अब बुढ़ापे की ओर बढ़ते दुर्दिनों में वैसा कहाँ दिखता है ? किशोरावस्था की उद्दाम उमंगों में डूबने, बहने, उतराने वाला लड़का अधेड़ अवस्था में उलझकर पहले जैसा कहाँ रह जाता है ? युवावस्था के एक-एक दिन को उत्सव की तरह जीने वाली युवती, माँ बनने के बाद वैसी उत्साही और तरंगी स्वभाव की कहाँ रह जाती है। व्यक्ति, वस्तु, विषय या यथार्थ दो कारणेां से परिवर्तितहोते हैं, एक तो बाहरी परिस्थितियों, समय के रंग-ढंग और वातावरण के स्वभाव के अनुसार और दूसरे खुद अपनी अन्तःप्रकृति, आन्तरिक क्षमता, गुण और मूलभूत आदत के अनुसार। बाह्य परिस्थितियों को बिना अतिरिक्त प्रयास के प्रत्यक्ष देखा जा सकता है, किन्तु अन्तःप्रकृति का साक्षात्कार ? अचूक कल्पनाशक्ति के बगैर यह बिल्कुल संभव नहीं। बिना सधी हुई कल्पनाशक्ति के यथार्थ को सम्पूर्णता में देखा ही नहीं जा सकता। टालस्टाय, गोर्की या प्रेमचन्द, जिस किसी भी शब्द-सिद्ध कथाकार ने यथार्थ जीवन, चरित्र या संस्कृति को अमर स्वरूप प्रदान किया, तो इसी वैज्ञानिक और तर्कमय कल्पनाशीलता के बूते। चरित्र की प्रतिसृष्टि रचने में पारदर्शी कल्पनाशक्ति की भूमिका का नमूना टाॅलस्टाॅय के इस कथन में देखिए - "जब कात्यूशा मुस्कुराती और नेरूलूदोव उसकी काली-काली, भीगे जंगली बेरों की सी आँखों की ओर देखता तो उसका दिल कोमलतम भावनाओं से भर उठता। उससे सामना होते ही कात्यूशा का चेहरा लाल पड़ जाता, और उसे लजाते देख नेरूलूदोव के दिल में स्नेह उमड़ पड़ता था।" (पुनरूत्थान, पृ. 79)

हिन्दी कथा साहित्य में ऐसे एक-दो ही उदाहरण हैं, जिसने यथार्थ के अस्तित्व को कालजयी कलेवर अपनी मौलिक कल्पनाशक्ति के बूते दिया हो। सचेत कल्पनाशीलता का धनी कथाकार अदृश्य सच को साफ-साफ देखता है, गुमनाम इतिहास का पाठ रचता है, मौन अर्थों का संगीत सुनता है और अचेत पड़े विषय में धड़कते कीमती प्राण की धड़कने महसूस करता है। कल्पना की कसौटी अवास्तव का बखान नहीं, बल्कि यथार्थ की निःशेष संभावनाओं को

प्रकाशित करना है। यथार्थ मात्र एक तिहाई ही प्रत्यक्ष, स्थूल, दृश्यात्मक और अकारमय होता है, शेष दो तिहाई (2/3) ? अप्रत्यक्ष, सूक्ष्म, रहस्यमय, दृश्य से परे और आकारहीन। इसलिए प्रत्यक्ष यथार्थ की प्रतिसृष्टि रचना कथाकार की उपलब्धि नहीं बल्कि छिपे-दबे हुए, रहस्यमय और वायवीय यथार्थ की प्रतिसृष्टि रचना कथाकार की उपलब्धि है। सिर्फ मनुष्य, जीव-जन्तु और पंक्षी की ही जुबान नहीं होती, बल्कि सृष्टि में मौजूद निष्प्राण और निर्जीव अस्तित्व की भी जुबान होती है। क्या आसमान आपसे कुछ कहे बिना सिर्फ झुका ही रहता है ? गुमसुम दिखते दरख्त क्या बिना कुछ बोले यूँ ही खड़े रहते हैं ? हवा, मिट्टी, रोशनी, पानी, वनस्पतियाँ, फसलें, फूल, पगडंडियाँ, खेत, सीवान, निचाट, नंगे मैदान सब ही तो अपनी-अपनी बोली-भाषा में सदियों से कुछ न कुछ सुना रहे हैं, सिखा रहे हैं, पाठ पढ़ा रहे हैं, चेतावनी दे रहे हैं, जिसे सुनने की साधना तो कीजिए । दो नहीं, दर्जनों कान विकसित कीजिए, वह भी बाहरी कानों से दसगुना शक्तिशाली और श्रवणशील। बड़ा कलाकार निर्जीव की पीड़ा सुनकर, गूंगे का दर सत्य जानकार, गुमनाम की कीमत का पता लगाकर ही कालजयी कथाकार बन पाता है, वरना जो दिख रहा है उसे ही दिखा देना कौन सी नयी बात है ? दृश्य के उस पार गूँजते यथार्थ को प्रकाशित करने की बेमिसाल कला रवीन्द्रनाथ की इन पंक्तियों में ढूँढ़िए- "मेरे स्वेद सने शरीर के रक्त को बर्फ करके हा- हा- हा - हा करती हुई एक हँसी अंधकार रात्रि में बहती हुई चली गयी। पद्मा को पारकर, पद्मा के कछार को पारकर, उसके तटवर्ती समस्त सुप्त प्रदेश, ग्राम नगर पार कर। मानो वह चिरकाल से देश-देशान्तर, लोक-लोकान्तर को पार करती क्रमशः क्षीण-क्षीणतर, क्षीणतम होकर असीम सुदूर की ओर चली जा रही थी...।" (कहानी - 'आधी रात में')

यथार्थ अपने आन्तरिक और बाह्य स्वरूप के अनुसार सर्जक से योग्य भाषा, शिल्प, शैली और सृजन-कला की मांग पेश करता है। अक्सर प्रत्येक कथाकार अपने व्यक्तित्व और प्रकृति के अनुसार यथार्थ की अभिव्यक्ति तो कर डालता है, किन्तु यह न्याय करना वह भूल जाता है कि यथार्थ अपनी सफलतम अभिव्यक्ति के लिए किस प्रकार की भाषा और कलात्मकता की मांग कर रहा है। हर विषय अपने गूंगेपन में सर्जक से बोलता है, बतियाता है, कभी-कभी चिल्लाता और रोता भी है। तारीफ यही कि सर्जक में विषय से संवाद करने की अकूत सहृदयता होनी चाहिए, सदियों से अनसुनी रह गयी उसकी अन्तरात्मा की पीड़ा को सुनने वाले कान होने चाहिए।

सृष्टि और प्रकृति की अन्तपीड़ा को न सुनने का दुष्परिणाम आज समूची मानव जाति भुगत रही है, और आगे भी...। अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, ओज, प्रसाद, माधुर्य विषय की अभिव्यक्ति के परम्परागत श्रेष्ठ सूत्र हैं, जबकि विषय अपनी दृश्य-अदृश्य संरचना में लीक से अलग और अज्ञात अभिव्यक्ति कौशल की मांग करता है। इसी खास बिन्दु पर कथाकार की असली परीक्षा होती है कि वह अभी तक बताए गये कला के तरीकों से अलग नितान्त मौलिक और सर्वथा नयी कला को जन्म दे पाता है या नहीं। यदि ऐसा संभव हो गया तो वह कथाकार न सिर्फ हजारों के बीच अपनी विशिष्ट महत्ता स्थापित करता है, बल्कि अभिव्यक्ति के अनुकरणीय मार्ग का जन्मदाता भी सिद्ध होता है। हिन्दी साहित्य में ऐसी अनोखी कला के दो ही उदाहरण हैं - प्रेमचन्द और रेणु।

विषय न सिर्फ अर्थ देता है, बल्कि विचार देता है, सलीका और संस्कार देता है, वह सावधान करता है, डराता और आतंकित करता है। वह कभी आकर्षक है, तो कभी घृणास्पद भी, कभी सम्मान के काबिल है तो कभी अपमान करने लायक भी। इसीलिए विषय जिस अच्छे या अंधकारी स्वभाव का है, उसी अनुसार सशक्त और बेजोड़ अभिव्यक्ति कौशल को जन्म देना उपन्यासकार की नायाब सफलता मानी जाती है। प्रेमचन्द जितनी काबिलियत के साथ होरी और धनिया का व्यक्तित्व खींचते हैं, उतनी ही दक्षता के साथ राय साहब का भी। विषय के व्यक्तित्व, स्वभाव और प्रकृति के अनुसार क्षण-क्षण परिवर्तनशील कलात्मकता का धनी होना उपन्यासकार की दुर्लभ उपलब्धि हैं । कभी चित्रात्मक, कभी संकेतपूर्ण, कभी सीधे-सीधे तो कभी व्यंजनापूर्ण भाषा की सृष्टि कर देना सफल उपन्यासकार के लिए जरूरी शर्त की तरह है। श्रेष्ठ उपन्यासों की भाषा एकरेखीय नहीं होती, बल्कि बहुअर्थी, बहुवर्णी, विविधतापूर्ण और अप्रत्याशित मोड़ों से भरी होती है। जिस तरह गीत की अन्तःप्रकृति के अनुसार संगीत का टोन बदलता रहता है, उसी प्रकार विषय, व्यक्ति, घटना और चरित्र के अनुसार अभिव्यक्ति कौशल भी। जिस कथाकार में चित्ताकर्षक भाषा की जितनी ही मौलिक विविधता है, वह कथाकार अपनी विधा को उतना ही गौरवान्वित करने वाला माना जाता है।

अनुभूति की मौलिकता

यह अनुभूति ही वह ताकत है, जो उपन्यासकार, कवि या आलोचक को नई भाषा, अभिनव विचार, ताजा शब्द और दरमार्मिक अर्थ प्रदान करती है। अनुभूति अर्थात दृश्य-अदृश्य यथार्थ के वजूद का एहसास, कण-कण में निनादित प्राण को सुनने की क्षमता, गुमनाम की असाधारण कीमत आंकने का विवेक और दिशा-बेदिशा में नृत्य

करते जहरीले अंधकार की सत्ता के खिलाफ खुद्दारी सजगता। विलक्षण, अनन्तधर्मी और अथाह अनुभूति की काबिलियत विशुद्ध प्राकृतिक चमत्कार है। जिस किसी रचनाकार में यह परले दर्जे की भर गयी, वह समय के कर्ममंच पर बाकमाल का व्यक्तित्व सिद्ध होता है। अनुभूति की दर-सूक्ष्मता उपन्यासकार को लीक से हटकर चित्रण करने का साहस देती है, विषय की मांग के अनुसार तेवर बदलती भाषा की क्षमता देती है, कल्पना को चमकती धार देती है और तत्वमय अन्तःदृष्टि को बेहतरीन गहराई देती है। अनुभूति की विविधता से शून्य उपन्यासकार विषय का वर्णनकर्ता बनकर रह जाता है। वह न तो ऊपरी सत्य से आगे बढ़ पाता है और न ही विषय के भीतर छिपे अर्थ की सम्भावनाओं का पता लगा पाता है। मोटे-मोटे उपन्यासों को ढेर लगा देने के बावजूद समय उसे औसत दर्जे का, साधारण उपन्यासकार ही साबित करता है। जबकि अनुभूति के आवेग में नाच उठने, रोने और रोमांचित होने वाला उपन्यासकार वर्णन नहीं, चिंतन बुनता है, अर्थों की अनुभूति से कंगाल औपन्यासिक अधिक से अधिक विषय का व्याख्याता ही हो सकता है, जबकि साँस-साँस में नई-नई अनुभूतियों की लहर से भरा हुआ उपन्यासकार बेजोड़ शिल्पकार। इसमें कहाँ दो मत कि असाधारण अनुभूति की काबिलियत प्राकृतिक उपलब्धि है, जिसे लाख प्रयत्न के बावजूद अर्जित नहीं कर सकते। यह जरूर है कि उसे माँजा और चमकाया जा सकता है, स्वस्थ और सक्रिय रखा जा सकता है, प्रयत्नपूर्वक बचाया जा सकता है। अनुभूति हृदय के बीचोंबीच मंद्र रौ में जलती नीली-नीली आग है, जो खुद भी उद्‌ण्ड स्वभाव की नहीं है और न ही सर्जक को वैसा होने देती है। नित नयी अनुभूतियों का धनी उपन्यासकार न सिर्फ मौलिक अर्थों का बुनकर होता है, बल्कि मूल्यवान, मार्मिक और अछूते विषयों का साहसपूर्वक चुनाव भी करता है। घिसे-पिटे, दोहराए गये, परम्परागत विषयों को उठाने से ऐसे कथाकार को सख्त एलर्जी होती है। फिर भी संयोगवश उसने यदि चिर-परिचित, दोहराए गये विषयों का चुनाव कर ही लिया तो अपनी कलात्मक अनुभूति के दम पर विषय में ऐसा नयापन भर देगा कि परिचित होकर भी वह विषय हृदयाकर्षक लगने लगे। अनुभूति भावात्मक कल्पना को धार देती है और कल्पना अनुभूति को दार्शनिक क्षमता। दोनों एक दूसरे के बगैर लम्बी उम्र नहीं जी सकते। यह जरूर है कि मात्र अनुभूति की मौलिकता के बल पर भी कुशल उपन्यासकार बना जा सकता है। यह न सिर्फ उपन्यासकार की योग्यता को साबित करने वाली शक्ति है, बल्कि उसे भीतर से संकल्पी, जज्बाती और दर ईमानदार भी निर्मित करती है। यदि अपनी अकूत अनुभूतियों की क्षमता के प्रति उपन्यासकार लापरवाह या

असावधान रहा तो वह शीघ्र ही ताजा अनुभूतियों को जन्म देने की क्षमता खो बैठता है। धीरे-धीरे वह भोथरी भावनाओं का साधारण चित्रकार बनकर रह जाता है। यदि एक बार बहुमुखी और उध्र्वगामी अनुभूतियों की उर्जा को उपन्यासकार ने खो दिया, तो दुबारा वह माथा पटककर भी पुनः हासिल नहीं कर सकता। संकल्प के धनी और साधक व्यक्तित्व में ही मौलिक अनुभूतियाँ अपनी पूर्णता प्राप्त करती हैं। वरना तो कई उर्जावान, प्रतिभा संपन्न और अति संवेदनशील उपन्यासकार अपनी विकृत जीवनशैली और मूल्यहीन आचरण-व्यवहार के कारण अपनी बेमिसाल अनुभूति की काबिलियत हमेशा के लिए खो ही बैठते हैं । राम विलास शर्मा का विचार अनुभूति के खास संदर्भ में- ‘‘कलाकार के लिए एक मूल वस्तु है संवेदना, सामाजिक जीवन से व्यापक परिचय अपने पात्रों से उचित अनुपात में सहानुभूति या घृणा। इनके साथ ही सही जीवन दर्शन भी हो तो कहना ही क्या। (उपन्यास और लोक जीवन, पृ. 6) यह अनुभूति का टटकापन उपन्यासकार को नया शिल्प, मौलिक कला, नये वाक्य, नये वर्णन-विन्यास का साहस और आत्मविश्वास देता है। साथ ही कथाकार को एक ऐसी मोहमयी दुनिया में खींच ले जाती है जहाँ विषय के भीतर का सब कुछ आश्चर्यजनक तरीके से रहस्यमय दिखाई देने लगता है। जैसे विषय की शरीर से नितान्त भिन्न और अद्वितीय दर्शन की धाराएँ फूट रही हों। उस वक्त विषय अपनी महत्ता का असाधारण विस्तार करता हुआ कोई शाश्वत व्यक्तित्व नजर आता है। स्पष्ट है कि यह कथाकार की साधारण मनोदशा की अवस्था दूर-दूर तक नहीं है। इसी लहकते क्षण में चित्रण की बेमिसाल भाषा-शैली का जन्म होता है और उपन्यास के कालजयी बनने का आधार सुनिश्चित होता है। प्रेमचन्द ने गोदान उपन्यास में एक नहीं, कई बार ऐसी उध्र्वगामी अनुभूति के शिखर को हासिल किया है, यह नेचुरल शब्द-सिद्धि दुनिया के प्रायः प्रत्येक युग-प्रवर्तक उपन्यासकार में न्यूनाधिक मात्रा में पायी जाती है। महसूस कीजिए मॉक्सिम गोर्की की इस असामान्य क्षमता को - ‘माँ को संगीत में रूचि हो चली। जब वह कोई गाना सुनती तो उसे ऐसा लगता कि उसके सीने में गर्म लहरें उठकर उसके दिल पर थपेड़े मार रही हैं। इन थपेड़ों से उसके हृदय का स्पंदन और भी समान गति से चलने लगा और उसमें ऐसे विचार उत्पन्न होने लगे जो अच्छी तरह सींची गई पृथ्वी में गहराई तक जमें हुए बीजों की तरह संगीत के प्रभाव से बड़े सहज ढंग से शब्दों के सुन्दर फूलों के रूप में प्रस्फुटित होते थे।’ (‘माँ’ उपन्यास - पृ. 259)

मौलिक अनुभूति की यह प्राकृतिक शक्ति उपन्यासकार से अनिवार्यतः कुछ संकल्पों के पालन की मांग करती है। उन संकल्पों में दृढ़तापूर्वक खुद को आजीवन बाँधकर ही कोई कथाकार लम्बी उम्र तक मौलिक अनुभूतियें की चमक बिखेरने का अधिकारी बन सकता है।

आज का बाजारपरस्त समय ऐसी जादुई अनुभूतियों के जन्म का सख्त विरोधी है। आकर्षक भौतिकता का उमड़ता सैलाब कथाकार के भीतर इस बेशकीमती दक्षता को बेतरह मार डालता है। यह दुर्लभ चिन्तनशक्ति जितनी ही मूल्यवान है, उतनी ही नाजुक भी। नाजुक कुछ इस कदर कि कथाकार द्वारा अपनी उपेक्षा एक पल के लिए भी बर्दाश्त नहीं करती और हृदय के क्षेत्र से धीरे-धीरे पलायन करने लगती है।

उपन्यास की पुनर्वापसी

महाकाव्य आया, शिखर का स्पर्श किया और विलुप्त हो गया। हूबहू इसी तर्ज पर उपन्यास आया, शिखर पर पहुँचा और फिर...? वैसे अभी यह घोषित करना सामंती अंधापन होगा कि उपन्यास विलुप्त होती विधा है, क्योंकि भारत ही नहीं विश्व के साहित्यिक मैदान में उपन्यास अपनी उपस्थिति आज भी दर्ज किया हुआ है। यह अवश्य है कि साहित्य के साधारण पाठकों की प्रिय विधा अब उपन्यास न रहा, बल्कि कहानी हो चुकी है। साहित्यिक विधाओं की लोकप्रियता में उपन्यास आजकल तीसरे स्थान पर लुढ़क गया है। कल्पना कर सकते हैं कि दूसरे स्थान पर कौन सी विधा विराजमान है ? एक समय था, जब युद्ध और शान्ति, अन्ना केरेनिना, पुनरूत्थान, अपराध और दण्ड, बौड़म, धीरे बहे दोन रे जैसे ग्रंथाकारी उपन्यास लिखे गये और विश्व स्तर पर प्रतिष्ठित हुए। हिन्दी में प्रेमचन्द, यशपाल, रांगेय राघव, अमृतलाल नागर, शिवप्रसाद सिंह, गिरिराज किशोर थिसिसनुमा उपन्यासों के शिल्पकार माने जा सकते हैं। मौजूदा सदी में भी बृहदाकार उपन्यास रचने का नशा कुछ मद्धिम नहीं हुआ है, लगातार अपने पाठकों को खोने और अलोकप्रियता के अन्धकार में ओझल होते जाने के बावजूद। विशुद्ध वर्णनबाजी, स्थूल चित्रात्मकता और बेजान शिल्प के बूते उपन्यास के मोर्चे पर जीत हासिल नहीं की जा सकती। समय ने अप्रत्याशित करवट ली है, व्यक्ति-व्यक्ति के चेहरे के बदलते रंग-ढंग के बारे में कुछ पूछिए ही मत ; व्यवस्था, संस्कृति, संस्कार, मूल्य, मान्यताएँ, विचार पद्धति, व्यवहार इत्यादि अभूतपूर्व विखण्डन, तोड़-फोड़, जोड़-घटाव और भयावह परिवर्तन के दौर से गुजर रहे हैं। मौजूदा सदी ने मानव सभ्यता के इतिहास में चिन्ताजनक खाइयाँ पैदा कर दी हैं । साहित्यिक विधाओं के अस्तित्व की बात तो छोड़िए, मनुष्य की रचनात्मकता, वैचारिक क्षमता, दार्शनिक मेधा पर ही सवालिया निशान लगने लगे हैं। मनुष्य की वैचारिक उत्कृष्टता का एक ओर ह्रास हो रहा है और दूसरी ओर नयी सदी अपने समूचे आवेग में हमारे जीवन पर छा जाने को तैयार खड़ी है। एक बार फिर उपन्यास पुनर्वापसी कर सकता है, अपना पुनर्जागरण कर सकता है, अपनी भूमिका दुबारा लौटा सकता है, किन्तु

अपने पुराने और मौजूदा स्वरूप, ढाँचा, शिल्प, भाषा और अंदाजे बयाँ का परित्याग कर देने के बाद ही। युग के दरसत्य के समानान्तर विधाओं का पुनर्निर्माण करना उसके जिन्दा रहने की अनिवार्य शर्त है। कविता और कहानी ने चेहरा बदलती शताब्दी के अनुसार खुद को बदला, इसीलिए आज वे ज्यादा जीवित हैं। सर्वप्रथम तो यह कि उपन्यास को अपना ग्रंथाकारी रूप सौ प्रतिशत छोड़ना ही होगा। पाँच सौ पेज का उपन्यास आशिक की तरह पढ़ जाने वाला दीवाना अब शायद ही कोई मिले। समय के व्यक्तित्व का चित्रण, वर्णन और व्याख्या करना अब 'आउट ऑफ डेट' तरीका घोषित हो चुका है। उसकी जगह सूत्रात्मक चिंतन, तत्वपूर्ण मूल्यांकन और मर्मभेदी कथात्मकता ने ले लिया है। उपन्यास अपनी आन्तरिक संरचना में कविता का ताना-बाना धारण कर ही बचा रह सकता है। ऐसा काव्यपूर्ण उपन्यास जो वर्णन नहीं, विषय-सत्य का मार्मिक उद्घाटन हो, खालिस चित्रण नहीं, अर्थ की संभावनाओं का गान हो, यथातथ्य का विस्तार नहीं, बल्कि स्थूल विषय या घटना के भीतर छिपे-दबे मर्म का आवेगमय संगीत हो। संगीत, धुन, लय, तान-कविता ही क्यों, किसी भी विधा की संजीवनी ताकत बन सकती है। अफसोस कि उसे कविता तक ही सीमित कर दिया गया। गौर करें कहानी और उपन्यास ने जहाँ-जहाँ सधी हुई दार्शनिक काव्यात्मकता का स्पर्श किया है, वहाँ-वहाँ उसकी ताकत दुगुनी-तिगुनी हुई है। प्रमाण के तौर पर देखिए प्रेमचन्द का एक उदाहरण 'किसी खेत के रखवाले की बाँसुरी की आवाज जिसे दूरी ने तासीर व सन्नाटे ने सुरीलापन और तारीकी ने रूहानियत की दिलकशी वख्शी थी..... यूँ कानों में आ रही थी, गोया कोई मुबारक रूह नदी के किनारे बैठी हुई पानी की लहरों को या दूसरे साहिल की खामोश व पुरकशिश दरख्तों को अपनी जिंदगी की दास्ताने गम सुना रही है।' ('बाँसुरी' कहानी)

युग की प्रामाणिक भाषा में उपन्यास रचना उसके पुनर्जीवन के लिए आवश्यक शर्त है। प्रामाणिक भाषा से तात्पर्य उसके जमीनीपन से है। ऐसी भाषा के 'टोन' को, कहने के अंदाज को, उतार-चढ़ाव को खट्टेपन और तासीर को भी हूबहू उपन्यास में जिन्दा कर देना उपन्यास की सफलता के लिए अनिवार्य है। बोलचाल की साधारण सी दिखती भाषा में सृजनमय कलात्मकता कूट-कूट कर भरी रहती है। समर्थ, सूक्ष्मदर्शी और अचूक दृष्टि वाला कथाकार बेहद कुशलतापूर्वक भाषा की खूबियों को साध लेता है और उपन्यास की संरचना में उस भाषा को इतने जादुई ढंग से पिरोता है कि शताब्दियों तक के लिए वह साधारण जन की भाषा अमर हो उठती है। किन्तु भाषा की यह ताकत हासिल होती है, जनता की जमीन से आँसुओं भरा प्यार करने पर, लोक की मौन,

पराजित किन्तु पवित्र आँखों से सीधे संवाद करने पर, सर्वसाधारण की जुबान की एक-एक भाव-भंगिमा को पारंगत अन्वेषक की तरह आत्मसात करने पर। और इन सबसे बढ़कर लोक सत्ता को उसके वजूद के साथ अपनी अन्तरात्मा में स्थापित कर लेने पर। यहाँ 'रैल्फ फाॅक्स' का विचार सामने रखने लायक है - 'उपन्यास केवल मात्र कथात्मक गद्य नहीं है, वह मानव के जीवन का गद्य है - ऐसी पहली कला है, जो सम्पूर्ण मानव को लेकर उसे अभिव्यक्ति प्रदान करने की चेष्टा करती है।' (उपन्यास और लोकजीवन, पृ. 10) प्रेमचन्द, रेणु और नागार्जुन ने युग की लोकात्मा को साधा और युग के प्रामाणिक भाषाकार बन गये। यह उपलब्धि हासिल करने के लिए कथाकार को 'फील्डवर्कर' बनना पड़ता है। प्याज के साथ बासी रोटी निपटाने की पीड़ा वही जान सकता है, जिसने खुद इस बेवशी को भोगा हो। जीवन संग्राम का कर्मठ सिपाही बने बगैर न जीवन जीने के रहस्य को समझा जा सकता है, न ही उस संघर्ष से उत्पन्न होने वाली आकंठ मनुष्यता को, और न ही, आँखों से, चेहरे से, हाथ-पाँव से, भावभंगिमा से, शब्द-शब्द से प्रकट होने वाली, भाषा को। जुबान की भाषा को तो हर कथाकार पकड़ लेता है किन्तु असली चुनौती तो नजरों की भाषा पकड़ना है, सूखती शरीर की भाषा समझना है, धरती नापते नंगे पाँवों की भाषा बूझना है। अभिव्यक्ति का साहस ऐसी ताकत है जो कि उपन्यास को आकर्षण से भर देती है। सतधा प्रतिबद्ध कथाकार ही अभिव्यक्ति का साहस अत्यन्त सहजता के साथ करता है। खल चरित्रों को, विनाशक व्यक्तियों को, रहस्यमय व्यक्तित्वों की असलियत को तार-तार कर देना साधारण उपलब्धि नहीं है। साधारण जन की अन्तरात्मा का शंखनाद करना साधारण कार्य नहीं है। वाक्य-दर-वाक्य में युग सत्य का प्राणमय चित्र पेश कर देना सामान्य सिद्धि नहीं है।

बेशक उपन्यास पुनर्जीवित हो सकता है किन्तु उसमें आम पाठक का असली चेहरा तो हो, अपनी ठेठ, भदेस और व्याकरण शून्य भाषा की तासीर तो हो, विस्मृत जीवन की मोहमय पुकार तो हो। मनुष्य का जीवन हूबहू उपन्यास ही होता है। कविता तो बिल्कुल नहीं, और कहानी किसी भी तरह नहीं। मगर अपने जीवन की प्रामाणिक अभिव्यक्ति जैसे न लिखित शब्दों में आसान है और न ही मौखिक शब्दों में। ठीक वैसे ही युग की कसौटी पर खरे उतरने वाले प्रामाणिक उपन्यास की सृष्टि कर देना आसान योगाभ्यास नहीं है। उपन्यास की संक्षिप्तता आज की अनिवार्य जरूरत है और उपन्यास के भविष्य की शर्त भी। जो विधा अपने पाठक खो देती है, वह चाहे कितनी कलात्मक और तत्वपूर्ण क्यों न हो असामयिक मौत की नियति प्राप्त करती है। इक्कीसवीं सदी का उपन्यास सधे-तपे हुए प्रेरक अर्थों की गरमाहट और तासीर

तथा विस्तार की संक्षिप्तता के बूते ही धमाकेदार पुनर्वापसी कर सकता है। जिस उपन्यास में दृष्टि होती है, जीवन-राग होता है, जय-पराजय, आशा-हताशा, स्वप्न और संघर्ष, विश्वास और विश्वासघात का लय बदलता हुआ संगीत होता है, वह उपन्यास सहज ही युग की प्रतिनिधि रचना सिद्ध होता है। स्मिथ का यह वाक्य आजकल के थिसिसवादी कहानीकारों और ग्रंथकारी उपन्यासकारों को गौर करने लायक है - "वह लेखक सबसे अच्छा लिखता है, जो अपने पाठकों का सबसे कम समय लेकर उन्हें सबसे अधिक ज्ञान देता है।" जब तक उपन्यासकार की चेतना में हाशिए की मनुष्यता का असीम मूल्य पुनर्जीवित नहीं हो उठता, तब तक उपन्यास के गौरव की पुनर्वापसी कैसे संभव है ? कैसे ?

संपर्क-सूत्र:
प्रोफ़ेसर
हिन्दी विभाग,नेहू, शिलांग-22
मो. 9774125265